■ युवा चिन्तन

इस स्तम्भ के अन्तर्गत हम 'आह्वान' टीम के साथियों और अन्य संवेदनशील-चिन्तनशील युवाओं द्वारा प्रस्तुत उन विचारपरक लेखों-टिप्पणियों को प्रकाशित करेंगे जिनमें समाज के किसी ज्वलन्त प्रश्न, किसी राजनीतिक-सामाजिक घटना-परिघटना या किन्हीं प्रातिनिधिक सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों-प्रवृत्तियों का दार्शनिक धरातल पर विवेचन किया गया हो। मौजूदा संक्रमणकालीन समय में नयी पीढ़ी के संवेदनशील तत्वों के मानसिक-भावात्मक जगत में एक बेचैन कर देने वाली उथल-पुथल का मौजूद रहना नितान्त स्वाभाविक है। इसी उथल-पुथल के बीच से निकलकर भविष्य को सिरजने वाले विचार व्यापक युवा आबादी के बीच भी पुष्पित-पल्लवित होते हैं जो कालान्तर में एक परिवर्तनकामी भौतिक शक्ति का रूप धारण कर लेते हैं। हमें उम्मीद है कि इस स्तम्भ के जरिये 'आह्वान' के पाठक एक सामूहिक चिन्तन-प्रक्रिया के जीवन्त साझीदार बन सकेंगे। –सम्पादक

"मैं हूं अपनी मर्जी का मालिक"–"क्या वाकई?"

अभिनव

तरह-तरह की स्पोर्ट्स कारों के नये-नये मॉडलों और 100 सी.सी मोटरसाइकिलों के ताजातरीन मॉडलों पर सवार, सड़कों पर फर्राटा भरते ऐसे बहुतेरे नौजवान अक्सर ही आपको दिख जाते होंगे जिनकी एक-एक भावभंगिमा, स्टाइल-अन्दाज से यह फूट रहा होता है—"मैं चाहे ये करूं, मैं चाहे वो करूं ... मेरी मर्जी!" उनका समूचा परिवेश बोलता है, चीखता है—मेरी मर्जी! उनकी संस्कृति चीखती है—मेरी मर्जी! उन्हीं के अक्स दूरदर्शन-सिनेमा के पर्दों पर चीखते-चिल्लाते हैं—मेरी मर्जी! एफ.एम. चैनलों से बजने वाले गीतों से भी यही चीख उभरती है—मेरी मर्जी! ऐसे में बरबस ही यह सवाल उठता है—"क्या वाकई"?

मन में यह सवाल भी सहज ही उठता है कि क्या ट्यूशन पढ़ाकर या दिन में कोई पार्ट टाइम काम करके अपनी पढ़ाई का खर्चा उठाने वाले नौजवान, वे नौजवान जिनके पिता सरकारी नौकरी से रिटायर हो चुके हैं और पी.एफ. में इतना पैसा नहीं जुटा पाये कि बेटी के ब्याह के लिए दहेज पूरा हो सके, या वे नौजवान जिनके मां-बाप दूर-दराज के किसी गांव में छोटी-मंझोली किसानी करते हुए, अपना पेट काटकर, कर्ज लेकर बेटे को पढ़ाई का पैसा किसी तरह भेजते हैं – क्या वे भी इतने ही अलमस्त-बेफ्रिक-स्वच्छन्द ढंग से हल्ला मचा सकते हैं—"मेरी मर्जी" या फिर —"हम लोगों की ठोकर में हैं ये जमाना"। हो सकता है कि कुछ समय के लिए ये नौजवान भी इस फैंटेसी के शिकार हो जायें पर यह कुण्ठित फैंटेसी ही होगी। हालात के थपेड़े उन्हें या तो इस कुण्ठित फैंटेसी से खुरदुरी जमीन पर ला पटकते हैं या यह फैंटेसी उन्हें रुग्ण मानसिकता वाला या अवसाद का मरीज बना देती है।

बहरहाल, जो लोग अपनी मर्जी के मालिक होने का दम भरते हैं उन्हें यह पता भी नहीं होता कि न जाने कितने स्वप्नों की कब्र पर उनके सपनों के फूल खिलते हैं। वे दरअसल ऐसा सोच ही इसलिए पाते हैं क्योंकि लूट पर टिकी व्यवस्था में बहुसंख्यक मेहनतकश जनता के दुर्भाग्य के समन्दर में उनकी "कामयाबियों" के टापू उठ खड़े हुए हैं। वस्तुतः यह उनकी मर्जी भी नहीं होती, उसका मिथ्याभास होता है। असली मर्जी तो पूंजी की होती है। दरअसल, स्वयं पूंजीपति भी पूंजी की मर्जी का गुलाम होता है। जब एक बार वह इसके चक्रव्यूह में फंस जाता है तो पूंजी उसे नचाती है। पूंजी एक ऐसी सवारी है जो उलटकर सवार को ही सवारी बना डालती है। यह अलग से एक चर्चा का विषय है। हम यहां पर इस चर्चा के विस्तार में न जाकर व्यक्तिगत आजादी की जो पूंजीवादी सोच है उसके गम्भीर विश्लेषण पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

यूं कभी-कभी चीजें सामान्य तर्कबोध से भी समझ में आ जाती हैं। लेकिन हमें उनका गम्भीर विश्लेषण कर उनकी जड़ों तक पहुंचना चाहिये तभी हम अवचेतन में बैठे हुए संस्कारों से मुक्त हो सकेंगे। निजी आजादी की पूंजीवादी सोच एक मिथ्याभास है। यह तो मीडिया और पूंजीवादी शिक्षा व्यवस्था है जो आम नौजवानों के दिलोदिमाग को इस सोच से दूषित करती रहती है। इसके साथ ही, पूंजीवादी समाज की स्वतंत्र गति और उसके आर्थिक नियम भी स्वतःस्फूर्त ढंग से व्यक्ति को व्यापक जनसमष्टि से काटकर अलगाव की मानसिकता और निजी स्वच्छन्दता का यूटोपिया रचते रहते हैं। पूंजीवादी समाज में बात यहां तक जा पहुंचती है कि किसी भी प्रकार की सामाजिकता और सामाजिक दायित्व ही आज एक मध्यवर्गीय युवा को निजी स्वतंत्रता पर बन्धन लगने लगती है। इस प्रश्न पर इस कोण से भी विचार किया जाना चाहिये कि पूंजीवादी सामाजिक अलगाव कितने रूपों में व्यक्ति को समाज-निषेधी, समूह-निषेधी बनाता जा रहा है और किस तरह हर प्रकार के सामाजिक दायित्व से मुक्त निठल्लेपन और उद्धत निरंकुशता को ही निजी आजादी मान बैठने की सोच पैदा होती है।

हम यहां इस नजरिये से इस प्रश्न पर

विचार करेंगे कि सामाजिक मुक्ति को निजी मुक्ति से जोड़ने वाले विचारकों ने किस रूप में व्यक्तिगत आजादी के प्रश्न पर विचार किया है और उनके विपरीत ध्रुव पर खड़े विचारकों के जो तर्क रहे हैं उनका उन्होंने किस रूप में खण्डन किया है। स्वतंत्रता और आवश्यकता के अन्तर्सम्बन्धों के सम्बन्ध में भी हम यहां आजादी की पूंजीवादी अवधारणा की एक समालोचना प्रस्तुत करेंगे।

आजादी की पूंजीवादी अवधारणा की समालोचना

दर्शन, समाज विज्ञान, और मानविकी के क्षेत्र में मुक्ति का प्रश्न हमेशा से ही विचार-विमर्श का आधारभूत विषय रहा है। ज्यादा समय नहीं बीता है जब बुर्जुआ बुद्धिजीवी इस विषय पर अपनी भ्रामक और स्वयं भ्रमग्रस्त धारणाओं को विभिन्न माध्यमों से आम लोगों तक पहुंचाने में लगे हुए थे। भ्रमित तो वे आज भी हैं, और पहले से भी ज्यादा बुरी तरह से, लेकिन अपनी इन धारणाओं को अब वे और परिष्कृत रूप में, और अधिक कुशलता के साथ लोगों के दिमाग में भर रहे हैं।

आज की विकृत और मानवद्रोही पूंजीवादी संस्कृति की नैया के खेवैया इस भ्रम के शिकार हैं कि **आदमी पैदा तो मुक्त ही हुआ था, लेकिन उसने स्वयं को समाज के बन्धनों में जकड़ लिया;** कि सबसे मुक्त मनुष्य वह है जो सबसे कटा हुआ है; कि 'स्वाभाविक मनुष्य' के मुक्ति पाने के लिए सबसे जरूरी है–समाज के साथ उसके सारे बन्धनों की समाप्ति; और यह कि मानव समुदाय को फिर से उसके संघटक तत्वों में विघटित कर देना ही मानव-मुक्ति की सबसे पहली शर्त है। मुक्ति की पूंजीवादी अवधारणा का केन्द्रीय तत्व यही है। यह पूंजीवादी संस्कृति के प्रमुखतम संघटक वैचारिक आधारों में से एक है।

हम इतिहास के एक महत्वपूर्ण दौर में जी रहे हैं। पूंजीवादी आर्थिक-सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था को जहां पहुंचना था, वहां वह पहुंच चुकी है। मानव समाज को कोई भी सकारात्मक योगदान देने की क्षमता पूंजीवाद खो चुका है और "आदर्श" या प्रतिदर्श पूंजीवादी समाज अकल्पनीय सांस्कृतिक विकृतियों के शिकार हैं। बुर्जुआ संस्कृति अपने विकास के दौर में तमाम वैज्ञानिक, कलात्मक, साहित्यिक, तार्किक उपलब्धियां हासिल करने के बावजूद आज खाली हाथ है। इसके मूल कारण को हम पूंजीवाद की सहज अराजक गति और अव्यवस्था के तर्क से समझ सकते हैं। असमान, अराजक और सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक विकास पूंजीवाद के बुनियादी अन्तरविरोधों को लगातार गहरा बनाता जा रहा है। हर उपलब्धि मिडास के स्पर्श* के समान है, जो स्वयं पूंजीवाद को ही अनुपयोगी जड़-पिण्ड में बदली जा रही है।

मुक्ति के बारे में पूंजीवादी सोच पूंजीवादी संस्कृति में विकृतियों का एक बुनियादी कारक रही है। बुर्जुआ संस्कृति की विडम्बना यह है कि वह अपने उद्‌भव से लेकर आज तक एक ही प्रक्रिया से चिपकी हुई है। जिन तर्कों का उपयोग उसने सामंतवाद से लड़ने के लिए किया था, उन्हें वह आज की समस्याओं को हल करने के लिए भी निरूपित कर रही है।

मुक्ति का पूंजीवादी दृष्टिकोण एक प्रतिक्रियावादी सोच है। यह मनुष्य को फिर से जंगल में भेजना चाहता है। वह कहता है कि, आदमी कुदरती तौर पर आजाद पैदा हुआ था लेकिन समाज के बन्धनों ने उसे और उसके विचारों को पंगु बना दिया। यानी एक तरह से यह दृष्टिकोण यह प्रतिपादित करता है कि सबसे आजाद जंगली पशु हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में तब होता है जब वह स्वच्छन्दता से अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर रहा होता है। लेकिन क्या मनुष्य की इच्छायें हवा में पैदा होती हैं? क्या वे निरपेक्ष होती हैं? क्या उन पर किसी भी चीज का प्रभाव नहीं पड़ता? क्या वे इच्छायें कभी गलत और अनैतिक नहीं हो सकतीं? यदि किसी मनुष्य की इच्छापूर्ति किसी अन्य मनुष्य की इच्छापूर्ति का अधिकार छीने, क्या तब भी उसका स्वच्छन्दता से इच्छापूर्ति करना उचित है? ये कुछ स्वाभाविक सवाल है जिन पर 'निरपेक्ष स्वतंत्रता' के पुजारियों को सोचना चाहिये।

मुक्ति विषयक यह वैचारिक भ्रम शुरू से ही इसी रूप में और भूमिका में नहीं रहा है जिसमें यह आज है। जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है, यह अवधारणा सामन्तवाद और चर्च की बेड़ियों से मनुष्य की मुक्ति के पक्ष में अस्तित्व में आई थी। वह यूरोप में पुनर्जागरण और प्रबोधन का दौर था। लोग चर्च और सामन्तवाद के तले दबे थे। वैयक्तिक अधिकारों का और जनवादी अधिकारों का कोई स्थान न था। तब व्यक्ति सामंती स्वेच्छाचारिता के खिलाफ खड़ा था। पूंजीवाद का सामन्तवाद-विरोधी, रूढ़िवाद-विरोधी, स्वेच्छाचार-विरोधी, पुनर्जागरण-कालीन घोषणापत्र यह घोषणा करता है कि **प्रत्येक मनुष्य द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक अपनी इच्छापूर्ति से समूचे समाज का भला होगा।** सामन्ती परिस्थितियों में यह सोच काल-विशेष के लिए क्रान्तिकारी भूमिका में थी। नतीजतन पूंजीवाद मुख्य शक्ति बनकर उभरा। पूंजीपति वर्ग ने इस मुक्ति की अवधारणा को अन्तिम और दिव्य सत्य के रूप में प्रचारित किया। सामन्तवाद द्वारा कुचली गयी जनता के लिए ये विचार क्रान्तिकारी थे। एक भूदास के लिये या एक किसान के लिए, जो दरअसल एक अर्द्धभूदास ही था, ये विचार मुक्तिकर्ता ही थे। इन्हीं विचारों से किसानों को सामन्ती बेड़ियों से मुक्ति भी मिली; यह बात दीगर है कि इसके बाद उसे पूंजी और बाजार का गुलाम हो जाना था। अब, जबकि पूंजीवादी व्यवस्था का पहिया चरमरा रहा है, मनुष्य सामन्तवाद के अपेक्षतया कमजोर बन्धनों से मुक्त होकर माल की अप्रत्यक्ष, अतिशक्तिशाली सत्ता के अधीन हो गया है, मुक्ति की वही पुरानी पुनर्जागरण-कालीन अवधारणा अब अप्रासंगिक हो चली है। पूंजीवादी समाज में पूंजी स्वतंत्र होती है और उसकी अपनी वैयक्तिकता होती है, जबकि जिन्दा आदमी निर्भर होता है और उसकी कोई वैयक्तिकता नहीं होती है।

---

*मिडास का स्पर्श : राजा मिडास को यह वरदान था कि वह जिस चीज को छुएगा वह सोने की हो जायेगी।

कार्ल मार्क्स के शब्दों में,

"उत्पादन की मौजूदा बुर्जुआ व्यवस्था के अन्तर्गत, स्वतंत्रता का मतलब है मुक्त व्यापार, मुक्त क्रय और विक्रय।"

पूंजीवाद में मनुष्य पूंजीवाद की परिस्थितियों का गुलाम होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा पूरी करना चाहता है। ऐसे में, जाहिरा तौर पर विभिन्न व्यक्तियों की इच्छाएं आपस में टकराती हैं। माल मनुष्य का भाग्य निर्धारित करने लगते हैं। मनुष्य का ही उत्पादन उसके अस्तित्व से कटकर उसका मालिक बन बैठता है। माल को अपने भविष्य-निर्धारक के रूप में देखने के कारण मनुष्य उसकी देवताओं के समान पूजा करने लगा। मुद्रा भी, जो एक सार्वभौमिक माल ही है, पूजी जानें लगी। इस तरह माल अन्धभक्ति (Commodity Fetishism) अस्तित्व में आई।

इसके बाद मनुष्य अपने अन्य मनुष्यों के साथ सम्बन्ध को मानव सम्बन्ध की जगह माल-सम्बन्ध के रूप में देखने लगे। यही दृष्टिकोण आज के दौर में अलगाववादी और स्वत्वात्मक नजरिये के हावी होने की बुनियादी वजह है।

पूंजीवादी मुक्ति की यह सोच स्वच्छन्दता की पक्षधर है। यह मानती है कि आदमी को बिना किसी के दुख-सुख की परवाह किये अपनी मनमानी करनी चाहिये। लेकिन आज यह सम्भव ही नहीं है। न ही यह व्यावहारिक है। पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत यह हो ही नहीं सकता कि मनुष्य स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी इच्छा पूरी करे। यदि यह सपना सच हो जाता औरआदमी 'कुदरती' तौर पर आजाद हो जाता तो कितना अच्छा होता! लेकिन वास्तविकता कुछ और ही है, जिसे सुनकर पूंजीवादी चिंतक या तो गुस्से में लाल हो जाते हैं या दुखी हो अवसादग्रस्त हो जाते हैं। ऊपरी तौर पर सच यह नजर आता है कि आज स्वतंत्र वह है जिसके पास पूंजी है। लेकिन थोड़ी गहराई में जाते ही यह पता चल जाता है कि यह भी सच नहीं मिथ्याभास है। दरअसल वह भी स्वतंत्र नहीं है। 'मुक्त' मनुष्य, वस्तुतः दीपक लेकर ढूंढ़ने से भी नहीं मिलेगा। **मुक्ति नैसर्गिक इच्छाओं की पूर्ति में ही नहीं बल्कि सामाजिक सम्बन्धों में भी निहित है। स्वतंत्रता निरपेक्ष नहीं होती, बल्कि यह मनुष्य से मनुष्य के सम्बन्धों पर ही टिकी है।** आदमी भले ही अपने मानवीय सम्बन्धों से मुंह फेर ले या उन्हें माल-सम्बन्धों का चोगा पहना दे, वह कभी भी उनसे अलग नहीं हो सकता, मनुष्य बने रहते हुए तो कदापि नहीं। उसके मानवीय सम्बन्ध माल-सम्बन्ध या बाजार से सम्बन्ध के भेस में होने के कारण स्वत्वात्मक प्रतीत हो सकते हैं।

प्रसिद्ध आलोचक **क्रिस्टोफर कॉडवेल** ने लिखा है – *"वह माल नगद और पूंजी प्राप्त करता है। उसके सामाजिक सम्बन्ध वस्तुओं से सम्बन्ध प्रतीत होते हैं, और चूंकि मनुष्य वस्तु से श्रेष्ठतर है, वह अब आजाद है, वही अब हावी है। लेकिन यह एक भ्रम है। समाज द्वारा निर्मित मानवीय सम्बन्धों से, जो कि समाज का प्राण और उसकी मूल-वस्तु हैं, मुंह मोड़कर मनुष्य उन शक्तियों का गुलाम हो गया है, जिनका नियंत्रण अब उससे परे है, क्योंकि उसने उनका मूल अस्तित्व नहीं स्वीकारा। वह पूंजी की गति, बाज़ार और तेजी-मंदी की दया पर है। वह अपने को ही भ्रम में रखे हुए है।"*

आगे वह लिखते हैं कि किस प्रकार पूंजीवादी स्वतंत्रता लोगों को मुक्त करने के बजाय भाग्य का दास बना रही है। "युद्ध, मन्दी, बेरोजगारी, निराशा और विक्षिप्तता के रूप में अन्धी तकदीर "मुक्त बुर्जुआ" और उसके "मुक्त पिछलग्गुओं" पर टूट पड़ रही है।"

बुर्जुआ मुक्ति की सोच आज अगणित विकृतियों को जन्म दे रही है, जैसे अलगाव, रुग्ण व्यक्तिवाद, अवसाद (Depression) पागलपन, आदि।

पूंजीवादी आदर्शवादी सोच कहती है कि सत्य मुक्ति को जन्म देता है। लेकिन यह मानने को वह तैयार नहीं कि सत्य-प्राप्ति इतनी सहज नहीं कि एक व्यक्ति अकेले उसको हासिल कर ले। सत्य-प्राप्ति में तो कई पीढ़ियों का सामाजिक श्रम लगा होता है। उसका तर्क है कि एक व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा अन्तिम यथार्थ (सत्य!) पा सकता है। यह तर्क एक ऐसे व्यक्ति का अहं प्रेरित रुदन का है जो पराजित है, जो यथार्थ प्राप्ति के मार्ग से डिग चुका है। यह वैसा ही हास्यास्पद है जैसे कि किसी का यह कहना कि वह अपने जीवन काल में ही भौतिकी का समूचा ज्ञान हासिल कर लेगा। यथार्थ एक अति-जटिल उपादान है और लगातार अधिक से अधिक जटिल होता जायेगा। इसे कई पीढ़यों के सामाजिक प्रयास से ही समझने की कोशिश की जा सकती है।

लेकिन बुर्जुआ व्यक्तिवाद इस सीमा से तिलमिला जाता है और सारे सत्यों की उपेक्षा करते हुए कहता है कि एक अकेला दिमाग सब कुछ कर सकता है। यह भोंडी सोच उसी दर्शन से उपजी है जो कहता है कि पहले चेतना है न कि अस्तित्व। कॉडवेल के अनुसार *"चेतना क्रियाशीलता को निर्देशित करती है लेकिन निर्देशित कैसे करें, यह क्रियाशीलता से ही सीखती है। व्यक्ति निश्चित रूप में, ऐतिहासिक तौर पर, और हमेशा ज्ञान से आगे चलता है, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति व्यक्ति के अस्तित्व का ही विस्तार है।"*

मनुष्य की प्रगति कुंडलाकार गति में होती है। दरअसल यह विकास होता है *अचेतनता से सचेतनता की सघनता की ओर।* भावनाएं और नैसर्गिकता सचेतनता की ओर गति की मुख्य उत्प्रेरक तत्व होती हैं। मनुष्य सचेतनता को लगातार सघन बनाता जाता है। लेकिन अगर परिवर्तनकारी शक्ति की बात होगी तो यह चेतना उसका सिर्फ एक हिस्सा है। हर मनुष्य की चेतना मुख्यत : भौतिक परिस्थितियां तैयार करती हैं। इसलिए सचेतन मनुष्य की भूमिका द्वितीयक, अनियमित और सीमित है। मनुष्य जैसे-जैसे अधिक सचेतन होता जाता है वह मुक्त होता जाता है। मनुष्य के सचेतन होने का अर्थ मुख्य रूप से उसका आवश्यकता के प्रति सचेतन होना है। आम तौर पर पूंजीवादी बुद्धिजीवी स्वतंत्रता और आवश्यकता के सम्बन्ध को नकारते हैं। लेकिन स्वतंत्रता पर कोई भी विमर्श तभी पूरा हो सकता है जब आवश्यकता के साथ उसके सम्बन्ध को समझा जाये। स्वतंत्रता बहुत घनिष्ठता के साथ आवश्यकता से जुड़ी हुई है। वस्तुगत आवश्यकता प्राथमिक होती है जबकि मनुष्य की चेतना द्वितीयक होती है। आवश्यकता वस्तुगत नियमों के रूप में समाज और प्रकृति में अस्तित्वमान होती है। जो परिघटनाएं समझ से बाहर होती हैं वे "अंधी" आवश्यकता के रूप में प्रकट होती हैं। आदिम मनुष्य तमाम प्राकृतिक नियमों को नहीं समझ सकता था, इसलिए वह

(पृष्ठ 17 पर जारी)

अज्ञात आवश्यकता का दास था। जैसे-जैसे मनुष्य प्राकृतिक नियमों के बारे में जानता गया, उसकी गतिविधियां सचेतन और मुक्त होती गयीं।

प्रकृति के अतिरिक्त मनुष्य की आजादी सामाजिक सम्बन्धों पर निर्भर करती है। वर्ग समाज में विभिन्न वर्गों के बीच शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध होते हैं। सामाजिक सम्बन्ध मनुष्य के विरोध में खड़े होते हैं और उन पर हावी होते हैं।

फ्रेडरिक एंगेल्स ने स्वतंत्रता और आवश्यकता के सवाल को काफी विस्तार से समझाया है—

“हेगेल पहले व्यक्ति थे जिन्होंने स्वतंत्रता और आवश्यकता के सम्बन्ध की सही व्याख्या की थी। उनकी दृष्टि में स्वतंत्रता आवश्यकता की अनुभूति है। “आवश्यकता उसी हद तक अंधी होती है जिस हद तक वह समझी नहीं जाती।” स्वतंत्रता प्राकृतिक नियमों से स्वाधीन हो जाने के स्वप्न में निहित नहीं है, बल्कि वह इन नियमों के ज्ञान में तथा इस ज्ञान की सहायता से इन नियमों से निश्चित उद्देश्यों के लिए सुनियोजित ढंग से कार्य कराने की जो सम्भावना होती है, उसमें निहित है। यह बात बाह्य प्राकृतिक नियमों के लिए भी सच है और उन नियमों के लिए भी, जो खुद मनुष्यों के शारीरिक तथा मानसिक अस्तित्व पर शासन करते हैं।...अतः इच्छा की स्वतंत्रता का अर्थ विषय के ज्ञान के आधार पर निर्णय करने की सामर्थ्य के सिवा और कुछ नहीं है। इसलिए किसी खास प्रश्न के सम्बन्ध में किसी आदमी का मत जितना अधिक स्वतंत्र है, इस मत के सार को उतना ही अधिक आवश्यकता के साथ निर्धारित किया जायेगा; जब कि दूसरी ओर अज्ञान पर आधारित वह अनिश्चितता, जो बहुत से भिन्न-भिन्न प्रकार के तथा परस्पर विरोधी सम्भव निर्णयों से किसी एक को मनमाने ढंग से चुनती प्रतीत होती है, ठीक अपने इसी काय से निर्धारित कर देती है कि वह स्वतंत्र नहीं है, बल्कि वह स्वयं उसी वस्तु के नियंत्रण में है, जिसका उसे खुद नियंत्रण करना चाहिये था। अतः स्वतंत्रता अपने ऊपर तथा बाह्य प्रकृति पर नियंत्रण में निहित होती है और यह नियंत्रण प्राकृतिक आवश्यकता के ज्ञान पर आधारित होता है।”

पूंजीवादी समाज में मनुष्य का बाह्य परिस्थितियों पर कोई नियंत्रण नहीं होता। उसका भाग्य उसी के द्वारा उत्पादित माल से नत्थी होता है और वह बाजार और पूंजी की गति के रहम पर होता है। मजदूर अपने श्रम के उत्पाद से कटकर उसके द्वारा शासित हो जाता है। विभिन्न वर्ग अलग-अलग स्तरों पर अलगाव के शिकार होते हैं। इसलिए सच्ची स्वतंत्रता किसी के पास नहीं होती, क्योंकि बाजार की अंधी शक्तियां सब कुछ तय करती हैं।

मुक्ति की पूंजीवादी अवधारणा की आलोचना करने के लिए एक कम्युनिस्ट होना कोई पूर्वशर्त नहीं है। ‘मनुष्य के मस्तिष्क की एकाकी प्रधानता’ या ‘मनुष्य की समाज से स्वतंत्रता’ के भ्रामक सिद्धान्तों की आलोचना कोई भी तर्कसंगत व्यक्ति कर सकता है। कहीं दूर क्यों जायें, भारतीय इतिहास में ही ऐसे तमाम चिंतक-विचारक रहे हैं, जो स्वतंत्रता की पूंजीवादी समझ को एक सिरे से खारिज करते हैं।

विवेकानन्द भी ऐसे ही एक चिंतक थे। वह जिस भारत में पले-बढ़े थे, जिस भारत को उन्होंने देखा-समझा था, वह अंग्रेजों के उपनिवेशवाद के जुवे तले दबा हुआ था। वहां रहने वाले लोग अंधविश्वासों, रूढ़ियों और अज्ञानता में जकड़े हुए थे। उनके सामाजिक चिन्तन का सर्वाधिक जोर था भारतीयों को साहसी, इच्छाशक्ति से परिपूर्ण बनाने पर, उन्हें शिक्षित और उन्नत बनाने पर और उनके अंधविश्वासों और रूढ़ियों को मिटाने पर। आम जनता के वैचारिक उत्थान को वह बेहद महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने कहा था कि इसके लिए देश का आर्थिक-राजनीतिक पुनर्निर्माण पहली पूर्वशर्त है। एक बार नास्तिकों की आत्माओं की रक्षा का रोना रोने वाली मिशनरियों और धार्मिक संस्थाओं से उन्होंने पूछा था : *“आप उनके शरीरों की भुखमरी से रक्षा क्यों नहीं करते?”* वह कहते थे कि “*वे* (आम जन—सं) *हमसे रोटी मांगते हैं, लेकिन बदले में हम उनके गले में धार्मिक सिद्धान्त उड़ेल देते हैं, यह उनका अपमान है।*”

वह कहते हैं :

“व्यक्ति की स्वतंत्रता, समुदाय की स्वतंत्रता में निहित है; समदुाय से अलग व्यक्ति के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह एक शाश्वत सत्य है और वह आधारशिला है जिस पर संसार की रचना की गयी है। अपरिमित पूर्णता की ओर धीरे-धीरे इस भावना के साथ बढ़ना कि इसके साथ सहायता और तादात्म्य अनिवार्य हो, कि उसके सुख में हम सुखी हैं और उसके दुख में हम दुखी हैं, यही किसी व्यक्ति का परम कर्तव्य है।”

मुक्ति की पूंजीवादी अवधारणा का **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** ने भी खण्डन किया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर कोई मार्क्सवादी या भौतिकवादी नहीं थे। वे एक भाववादी दार्शनिक थे। जाहिर है कि वह भी परम यथार्थ, परम चेतना में आस्था रखते थे लेकिन उनके लिए यह चेतना, यह यथार्थ नैतिक तथा सौन्दर्यानुभूति के मूल्यों का मूर्त रूप था। वह मानव को ही अपने दर्शन का केन्द्र मानते थे। वह तो यहां तक कहते हैं—“*यह ब्रहमाण्ड यदि किसी व्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं है तो एक भयंकर छलावा है।*”

समाज में व्याप्त पार्थक्य (Segregation) की उन्होंने कड़ी भर्त्सना की है। वह लिखते हैं— *“हमारी आत्मा जब प्रेम के प्रकाश से जगमगा उठती है, तो दूसरों के उससे अलगाव का नकारात्मक पक्ष अपनी महत्ता खो देता है। अलगाव के इस प्रकार समाप्त हो जाने पर मनुष्य वस्तुओं के यथार्थ को उनकी पूर्णता और सार्वत्रिकता में देख पाता है।”*

वह व्यक्तिगत महानता को स्वीकार करने के साथ ही व्यक्तिवाद की घोर आलोचना करते थे। वह इस सत्य को स्वीकार करते थे कि मनुष्य की पूर्णता के दो पहलू होते हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक।

“वैयक्तिक सफलता कभी पूर्ण और निरपेक्ष नहीं हो सकती। जिन लोगों ने मनुष्यों के बीच उच्चतम पद प्राप्त किये हैं, उनकी शक्ति समष्टि की शक्ति से अभिव्यक्त होती है; वह समष्टि की शक्ति से अलग और भिन्न नहीं है। जहां एक व्यक्ति के रूप में अलगाव पैदा होता है, जहां पारस्परिक सहयोग घनिष्ठ नहीं होता है, वहां बर्बरता का साम्राज्य होता है।”

रवीन्द्रनाथ अलगाव और अकेलेपन से घृणा करते थे। इन्हें वे मानव-जाति से विजातीय प्रवृत्तियों के रूप में रेखांकित करते थे।

पूंजीवाद जिन सामाजिक और मानवीय सम्बन्धों को ‘कुदरती’ तौर पर आजाद मनुष्य के पैरों में बेड़ी बताता है, रवीन्द्रनाथ ने उनके

बारे में कुछ यूं लिखा है–

"मैं इन बंधनों से घृणा नहीं करता, वे मुझे जकड़े या बांधे हुए नहीं हैं, वे तो मुझे स्वयं अपनी आत्मा के पाश से बाहर निकालकर अपने मस्तिष्क को उन्मुक्त करने और स्वयं को विस्तारित करने में मेरी सहायता करते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय विचारकों ने भी मुक्ति के बुर्जुआ दृष्टिकोण की अपने ढंग से और अपनी सीमाओं में आलोचना की है। इसके अतिरिक्त हमें विश्व-स्तर पर भी ऐसे तमाम दार्शनिक-चिंतक-विचारक मिलेंगे जो मार्क्सवादी दार्शनिक अवस्थिति पर नहीं खड़े थे, पर जिन्होंने समाज से व्यक्ति की असम्बद्धता को अस्वीकार किया है। इन्हीं में से एक थे महान वैज्ञानिक **अल्बर्ट आइंस्टीन।**

अपनी पुस्तक 'आइडियाज एण्ड ओपिनियंस' के 'समाज एवं व्यक्तित्व' नामक लेख में वह लिखते हैं :

"अगर हम अपने जीवन और अपने प्रयासों का सर्वेक्षण करें तो जल्द ही यह पायेंगे कि हमारी लगभग सभी गतिविधियां और इच्छाएं दूसरे मनुष्यों के अस्तित्व के साथ जुड़ी हैं। हम पायेंगे कि हमारी प्रकृति सामाजिक जीवों की प्रकृति से मेल खाती है। हम जो खाना खाते हैं, वह दूसरे लोग पैदा करते हैं, हम जो कपड़े पहनते हैं वह दूसरे लोगों ने बनाये हैं, हम जिन घरों में रहते हैं उनका निर्माण भी दूसरे लोगों ने किया है। हमारे ज्ञान और आस्थाओं के बड़े हिस्से का स्रोत अन्य लोग हैं, जिसका हम तक पहुंचने का माध्यम भी उन लोगों द्वारा रचित भाषा है। भाषा के बिना निश्चित ही हमारी मानसिक क्षमतायें दूसरे उच्चतर जीवों की तुलना में कमजोर होतीं; इसलिए हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जानवरों से हम जिस मामले में बेहतर हैं, वह है हमारा मानव समाज में अस्तित्वमान होना। एक व्यक्ति को अगर उसके जन्म से अकेला छोड़ दिया जाये तो अपने विचारों और भावनाओं में वह इस कदर आदिम और जंगली रह जायेगा जिसकी हम कल्पना भी मुश्किल से कर सकते हैं। एक व्यक्ति का जो भी महत्व है वह उसके व्यक्तित्व की बदौलत नहीं है, बल्कि उसके एक महान मानव-समुदाय का सदस्य होने के चलते हैं, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके भौतिक और आत्मिक अस्तित्व को निर्देशित करता है।"

आइन्स्टीन समाज से मनुष्यों के सम्बन्ध की पूंजीवादी सोच पर तीखा प्रहार करते हैं। वह मानते हैं कि आज पूंजीवाद यह सीख दे रहा है कि मनुष्यों को समाज से अपने सम्बन्ध पर लज्जित होना चाहिये। वह लिखते हैं–

"अब मैं उस मुकाम तक पहुंच गया हूं जहां मैं संक्षेप में यह बता सकूं कि मेरे हिसाब से आज की समस्या की जड़ कहां है। इसका सरोकार मनुष्य से मनुष्य के सम्बन्ध से है। समाज पर अपनी निर्भरता के विषय में आज आदमी जितना सचेत है, उतना पहले कभी नहीं था। लेकिन समाज पर अपनी इस निर्भरता को वह एक सकारात्मक विशेषता, एक सहज व स्वभावगत बंधन, एक रक्षक शक्ति के रूप में नहीं देखता है, उल्टे वह इसे अपने नैसर्गिक अधिकारों के लिए, यहां तक कि अपने आर्थिक अस्तित्व के लिए एक खतरे के रूप में देखता है। इसके अलावा, समाज में उसकी स्थिति ऐसी होती है कि उसके दिमाग की व्यक्तिवादी और अहंवादी रुझानें लगातार शक्तिशाली होती जाती हैं, जबकि सामाजिक रुझानें जो मूलतः कमजोर होती हैं, वह तेजी से और भी कमजोर होती जाती हैं। हरेक मनुष्य, चाहे समाज में वह किसी भी जगह हो, इस ह्रास की प्रक्रिया का शिकार है। अनजाने में वह अपने अहंकार की कैद में आ जाता है। और अपने-आपको अकेला, असुरक्षित और असहाय महसूस करता है।"

आइन्स्टीन मानते हैं कि मनुष्य जीवन में अर्थ तभी पा सकता है जब वह अपने आपको एक समाज के जिम्मेदार सदस्य के रूप में देखे, और स्वयं को समाज को समर्पित कर दे।

एक पूंजीवादी समाज में सामाजिक सम्बन्ध मनुष्य के लिए बाधा बन जाते हैं। फलतः व्यक्ति समाज को ही अपनी स्वतंत्रता के रास्ते का रोड़ा समझने लगता है। मार्क्सवादी विश्व-दृष्टिकोण इस विडम्बना को बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से देखता और विश्लेषित करता है। इस सन्दर्भ में **स्वतंत्रता और आवश्यकता** का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसका हम संक्षेप में उल्लेख कर चुके हैं। स्वतंत्रता की जमीन है आवश्यकता को समझना। जैसाकि पहले भी उल्लिखित है कि आदिम मनुष्य प्रकृति के नियमों से अनजान था, और इसलिए स्वतंत्र नहीं था। यही बात सामाजिक प्रकृति के साथ भी लागू होती है। वर्ग समाज में सामाजिक सम्बन्ध व्यक्तियों के प्रति दुश्मनाना रुख अपनाते हैं। ऐसा भी समझा जाता है कि आवश्यकता और स्वतंत्रता विपरीत चीजें हैं। जहां आवश्यकता होगी वहां स्वतंत्रता तो हो ही नहीं सकती, इसलिए अगर कोई स्वच्छन्दता से कार्य करे तो आवश्यकता से बच सकता है। लेकिन यह एक गलत अप्रोच है। दुनिया में हर घटना की तरह मानव के क्रियाकलापों के पीछे कुछ कारणात्मक नियम होते हैं।

मनुष्य जिस मामले में अन्य जन्तुओं से मानसिक धरातल पर भिन्न होता है वह उसकी समाहार करने की क्षमता है। वह अपने प्रयोगों और प्रयासों का समाहार करके आवश्यकता की अपनी समझ को लगातार विकसित करता जाता है। यह प्रक्रिया उसकी उत्पादक कार्रवाई से शुरू होती है जिसमें वह अपने श्रम को विशेषज्ञ तरीके से लगाकर प्रकृति के संसाधनों को अपनी जरूरत के अनुसार रूपान्तरित करता है और अपनी आवश्यकता की पूर्ति करता है। लेकिन इससे वे प्राकृतिक आवश्यकता से मुक्त नहीं होते। वे उन पर नहीं लेकिन उनकी समझ पर निर्भर करते हैं। **मनुष्य प्रकृति से नहीं बल्कि प्रकृति के अज्ञान से मुक्त होता है, कुदरत की "अंधी ताकतों" से मुक्त होता है।** प्रकृति पर विजय का अर्थ है मनुष्यों द्वारा उसके नियमों का ज्ञान हासिल करना और उसे मानव समाज की भलाई के लिए इस्तेमाल करना। स्वतंत्रता बाह्य प्रकृति या सामाजिक प्रकृति से कटने में नहीं बल्कि उनकी समझ में निहित है।

एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह है कि स्वतंत्रता पूरा समाज या मानव-जाति नहीं हासिल करती, एक व्यक्ति हासिल करता है। लेकिन यह बात कभी नहीं नजरअंदाज की जा सकती कि एक व्यक्ति स्वतंत्रता समाज के जरिये ही हासिल कर सकता है। इसकी वजह यह है कि स्वतंत्रता को हासिल करने का औजार है ज्ञान, और ज्ञान प्रकृति से ही सामाजिक होता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता उसके समाज के उपार्जन पर निर्भर करती है। वह समाज किस हद तक अन्य मनुष्यों से उसे सहकार उपलब्ध कराता है,

उसकी मुक्ति का प्रश्न इससे भी जुड़ा हुआ है। एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि समाज हरेक व्यक्ति को अपने उपार्जन की हिस्सेदारी की अनुमति देता है या नहीं, या किस हद तक देता है। यानी व्यक्ति की स्वतंत्रता इस बात पर भी निर्भर करती है कि वह अपने समाज के उपार्जनों का इस्तेमाल कर सकता है या नहीं। समाज प्रत्येक व्यक्ति को अपनी संभावनाओं को पूर्ण करने, सामाजिक संसाधनों का इस्तेमाल करने और समूह के प्रयत्नों से हासिल ज्ञान को साझा करने की इजाजत और मौका देता है या नहीं, यह सवाल बुनियादी सवाल है, विशेषकर व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए।

आदिम समाज में मनुष्य की गुलामी के लिए प्रकृति का अज्ञान जिम्मेदार था। जैसे-जैसे मनुष्य ने प्रकृति के नियमों को जाना और इस ज्ञान का उपयोग विकास के लिए किया, वैसे-वैसे वह प्रकृति की गुलामी से मुक्त होता गया। लेकिन जब यह सब कुछ हो रहा था तो मनुष्य अपनी स्वतंत्रता के रास्ते में एक दूसरी बाधा खड़ी करता गया। सभ्य समाज के अस्तित्व में आने के साथ शत्रुतापूर्ण वर्ग भी अस्तित्व में आये। वर्ग-सम्बन्ध मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधा बन गये। ऐसा एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण से हुआ।

वर्ग समाज में स्वतंत्रता की और उसे प्राप्त करने की एक वर्गीय पृष्ठभूमि होती है। हर वर्ग की स्वतंत्रता की अपनी अवधारणा होती है। वर्ग-संघर्ष की विभिन्न मंजिलों से होते हुए मानव मुक्ति की यात्रा आज पूंजीवादी समाज तक पहुंची है, जहां मुक्ति की पूंजीवादी धारणा हावी है। पूंजीवादी समाज में उत्पादन-प्रक्रिया के जटिल होते जाने के साथ ही इसका नियंत्रण मनुष्य के हाथ से निकल जाता है। इस तरह मनुष्य अपने ही श्रम की उपज और प्रक्रिया का गुलाम हो जाता है। यही परिघटना पूंजीवादी समाज में माल अंधभक्ति, अराजकता, अलगाव और अव्यवस्था को भी जन्म देती है। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में प्रकृति मनुष्य को उत्पादक शक्तियों के विकास के जरिये अपने आपको मुक्त करने के अवसर भी देती है। उत्पादक शक्तियों के विकास के कारण उत्पादन सम्बन्ध बदली हुई स्थिति में पहुंच जाते हैं। यह परिघटना आदमी को उस स्थिति में पहुंचा देती है जहां वह आर्थिक आवश्यकता के हाथों अपनी गुलामी को समझ पाता है। यही चीज *अज्ञानता* पर *चेतना* की अन्तिम विजय सुनिश्चित करती है, *अंधी आवश्यकता* पर *तर्क* की जीत सुनिश्चित करती है। जब आदमी अपनी गुलामी की जमीन समझ लेता है, यानी एक पूंजीवादी समाज में जब वह उत्पादन की अराजकता को अपनी गुलामी के कारण के रूप में देख लेता है, तब वह उत्पादन को व्यवस्थित करने के लिए संघर्ष करता है, और उसे अपनी इच्छा की दिशा में मोड़ता है। और इस तरह आदमी आवश्यकता के राज्य से स्वतंत्रता के राज्य में छलांग लगाता है। ऐसे हर समाज में जहां यह छलांग लगाई जानी है, सामाजिक सम्बन्ध लोगों की स्वतंत्रता में बाधा बनते हैं।

यही कारण है कि तमाम ईमानदार चिंतक भी इस भ्रम का शिकार हो जाते हैं कि समाज ही व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधक है। पूंजीवादी समाज में व्यक्ति और समूह के हित नदी के दो किनारे होते हैं।

एक पूंजीवादी समाज में ये सम्बन्ध समूह के और व्यक्ति के हितों के टकराव की जमीन पर खड़े होते हैं, ऐसे टकराव पूंजीवादी समाज के साथ ही खत्म हो सकते हैं। पूंजीवादी विचार कहता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता और समूह की सदस्यता का एक साथ अस्तित्वमान रहना सम्भव ही नहीं है। वह कहता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व और वैयक्तिकता तो समूह के बाहर ही निखरती है। यही सोच आज अमेरिकी समाज में सामाजिक-मानवीय संवेदनाओं के पतन का कारण बनती जा रही है। समूह और उसके हितों पर पूंजीवाद का चिन्तन अधिक से अधिक सहकारिता पर जाकर खत्म हो जाता है और इस तरह से व्यक्ति के हितों को वह व्यक्तिवाद और अराजकतावाद में न्यूनीकृत कर देता है। इसके विपरीत समाजवादी समाज में समूह और व्यक्ति के एक समान हित और एक समान लक्ष्य ही, व्यक्ति-समूह सम्बन्ध की बुनियाद होते हैं। **व्यक्ति सिर्फ और सिर्फ समूह में ही अपनी योग्यता और अपने व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास कर सकता है और वैयक्तिक स्वतंत्रता केवल समूह में ही मुमकिन है।**

पूंजीवादी चिंतक व्यक्ति को समाज में पूरी तरह से स्वायत्तता दिये जाने की वकालत करते हैं। वे दावा करते हैं कि व्यक्तिवाद मानव स्वभाव का अपरिवर्तनीय अंग है जो मनुष्य की अधिकांश गतिविधियों को निर्देशित करता है। दरअसल, व्यक्तिवाद बुर्जुआ नैतिकता की आधारशिला है। यह व्यक्ति और समूह को परस्पर विरोधी बताता है और सामूहिक हितों को व्यक्तिगत हितों के मातहत करना ही इसका लक्ष्य होता है। पूंजीवाद की स्थापना से लेकर आज तक व्यक्तिवाद का चरित्र लगातार मानवद्रोही होता गया है।

पूंजीवाद के अन्तर्गत मनुष्य परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित होता है, उसका दास होता है। ये परिस्थितियां होती हैं पूंजी और बाजार की, जिनकी दया पर मनुष्य होता है। वैयक्तिकता की गारण्टी तभी हो सकती है जब उत्पादकों के समूह द्वारा समाजीकृत उत्पादन शुरू होता है, जिसमें समूह के विकास की शर्त होती है प्रत्येक व्यक्ति का विकास। वैयक्तिकता सही मायनों में ऐसे समाज में ही निखर सकती है जिसमें उत्पादन के साधनों पर पूरे समाज का अधिकार हो और जिसकी चालक शक्ति निजी मुनाफा नहीं बल्कि सामाजिक हित है।

जब समाजवादी समाज में जनता उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व के जरिये अपने सामाजिक संगठन को अपने सचेतन नियंत्रण में लाती है तो मानव स्वतंत्रता में एक निर्णायक छलांग लगती है। जब समाजवादी समाज की उन्नत मंजिलों में मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का खात्मा हो जाता है और सम्पत्ति के सामाजिक मालिकाने के जरिये इसका उपयोग प्रत्येक व्यक्ति की जरूरत पूरी करने के लिए होने लगता है तो लोगों को आजादी के संघर्ष करने के बजाय आजादी को जीने का ज्यादा मौका मिलता है। साथ ही इस स्वतंत्रता को और विस्तारित कैसे किया जाये, यह भी लोग समझते जाते हैं। और जब कम्युनिस्ट समाज में उत्पादन के साधनों और उत्पादों के हाथों दासता का अंश-अंश समाप्त हो जाता है, तब मनुष्य स्वतंत्रता के उच्चतम सम्भव धरातल पर पहुंच जाता है। एंगेल्स के शब्दों में– *''और तब एक मायने में मनुष्य पहली बार शेष प्राणिजगत से अलग होता है और जीवन की निरी पाशविक अवस्थाओं से निकलकर यथार्थ रूप से मानवीय अवस्थाओं में प्रवेश करता है। जीवन की जो अवस्थायें मनुष्य को घेरे हैं और जो अभी तक उस पर शासन करती आयी हैं, उनका*

संपूर्ण क्षेत्र मनुष्य के अधिकार और नियंत्रण में आ जाता है। मनुष्य पहली बार प्रकृति का वास्तविक और सचेत रूप से स्वामी हो जाता है, क्योंकि अब वह अपने सामाजिक संगठन का स्वामी बन गया है।... यह मनुष्य की आवश्यकता से स्वतंत्रता के राज्य में छलांग है।"

मॉरिस कॉर्नफोर्थ ने इस बात को बड़े सारगर्भित ढंग से चंद लाइनों में प्रस्तुत किया है :

"लोग आजाद ही पैदा नहीं होते, बल्कि धीरे-धीरे आजादी हासिल करते हैं। स्वतंत्रता प्रकृति पर विजय के लिए संघर्ष और वर्ग संघर्ष द्वारा हासिल की जाती है और विकसित की जाती है। वर्ग समाज में स्वतंत्रता दरअसल विभिन्न वर्गों द्वारा हासिल और धारण की जाती है। उनकी स्वतंत्रता पर बाधाएं ठोस रूप में अलग-अलग प्रकार से लगती हैं, जो उन वर्गों की अवस्थिति और लक्ष्य पर निर्भर करता है। स्वतंत्रता के लिए संघर्ष मूलतः जनता का अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए किया जाने वाला संघर्ष है। जीवन की पाशविक स्थिति से शुष होकर मानव जाति स्वतंत्रता प्राप्ति के मार्ग पर लगातार बढ़ती जाती है, जो कम्युनिस्ट समाज की ओर जाती है। स्वतंत्रता के उद्भव की मंजिलें नैतिकता के उद्भव की मंजिलें भी हैं।[21]

स्पष्ट तौर पर इक्कीसवीं सदी के मुक्तिकर्ता के कार्यभार, जिम्मेदारियां, लक्ष्य और रास्ता पुनर्जागरण-कालीन मुक्तिकर्ता से बिल्कुल अलग हैं। उसे यह सच सामने लाना है कि मौजूदा सामाजिक व्यवस्था की सीमाएं और बन्धन स्वतंत्रता के भेस में मानव सभ्यता के गुणात्मक विकास के रास्ते में बाधा बने हुए हैं। उसे यह बात समझानी होगी कि पुनर्जागरण काल में सामन्तवाद की जंजीरों से स्वतंत्रता दिलाने वाले विचार आज स्वयं ही मनुष्य के लिए बेड़ियां बन गये हैं।

उसे जनता के बीच इस सत्य को स्थापित करना होगा कि **पूंजीवादी समाज का सकारात्मक केवल सामन्तवादी समाज से उसकी श्रेष्ठता में निहित है।** उसके अतिरिक्त यह एक वर्ग-विभाजित समाज है जिसके मूल में मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण ही है। आज के मुक्तिकर्ता के एजेण्डे में जहां एक ओर मेहनतकश आबादी को उसकी गुलामी का कारण समझाना और मुक्ति का रास्ता दिखाना शामिल होगा, वहीं मध्यवर्ग के मानस-पटल पर से मुक्ति के प्रश्न पर छाई धुंध को हटाना भी शामिल होगा। मेहनतकश आबादी में इस बात को प्रचारित-प्रसारित करना उसका कर्तव्य होगा कि शोषण पर आधारित आर्थिक-सार्माजिक व्यवस्था का ध्वंस और समानता और न्याय पर आधारित समाज को स्थापित करने, यानी समाजवाद को स्थापित करने और कम्युनिज्म की प्राप्ति परियोजना में ही उनकी मुक्ति निहित है। जनता जंगलों में नहीं बल्कि सामाजिक सहकार की उच्चतम सम्भव मंजिल (साम्यवाद) पर ही वास्तविक आजादी प्राप्त करेगी।

पूंजीवादी व्यवस्था का सिद्धान्त है कि लोग तब आजाद हो सकते हैं कि जब प्रत्येक व्यक्ति मुनाफा लूटने के लिए आजाद हो। पूंजीवादी मुक्ति के तर्क के अनुसार, चूंकि सबको स्वेच्छा से अपनी इच्छापूर्ति का अधिकार हैं, खाली हाथ लोगों की चन्द लोगों के हाथों में सीमित भौतिक सम्पदा को छीन लेने का भी हक है। लेकिन इस बात पर पूंजीवादी चिंतक, बुद्धिजीवी, सिद्धान्तकार, कानून निर्माता, सब के सब घबड़ाकर एक स्वर में में चीख उठते हैं–"नहीं, नहीं, मुक्ति के बारे में हमारा यह मतलब नहीं था। यह तो लूटपाट है, सज्जनों पर हमला है।" इसी मौके के लिए, यानी अमीरजादों की पूंजीवादी स्वतंत्रता की, वंचितों की पूंजीवादी स्वतंत्रता से रक्षा के लिए ही, राज्य, पुलिस, सेना, न्यायालय आदि, जैसे औजार होते हैं।

आखिर आज करोड़ों-करोड़ आम जन क्या चाहता है? वह पढ़ना चाहता है, वह सर्वतोमुखी विकास और प्रगति चाहता है, वह रोजगार चाहता है, घर चाहता है; वह यह नहीं चाहता कि साम्राज्यवादी युद्धों की चक्की में फंसकर अपने जैसे दूसरे मनुष्यों का कत्ल करे या उनके हाथों मारा जाये, वह भूख नहीं चाहता, वह गरीबी-अशिक्षा-बेरोजगारी-बदहाली नहीं चाहता है। क्या आज एक आम भारतीय यह चीजें पा सकता है? नहीं। इसके बाद उसे "अभिव्यक्ति और चुनने की आजादी" के बारे में बताया जाता है, उसके गले में "राष्ट्रवाद" और "धर्म" का घोल उड़ेला जाता है। क्या यह सब आम मेहतनकश आबादी के साथ एक घिनौना मजाक नहीं है?

जब तक जनता की बुनियादी जरूरतें पूरी नहीं होती, कोई आजाद नहीं है। और यह काम करने में पूंजीवादी व्यवस्था अक्षम है। इसके ध्वंस, समाजवाद की स्थापना और कम्युनिज्म में संक्रमण के बाद ही ये आवश्यकतायें पूर्ण होंगी। तब आदमी आवश्यकताओं को समझेगा, और सामाजिक और प्राकृतिक गतियों के नियमों के ज्ञान को प्राप्त कर अपनी गतिविधियों को मानव जाति के कल्याण की दिशा में मोड़ेगा और सही मायने में स्वतंत्र होगा, और तब **आवश्यकता के राज्य से स्वतंत्रता के राज्य में छलांग लगेगी।**

घोषणापत्र : प्रपत्र 1

पत्रिका का नाम	- आह्वान कैम्पस टाइम्स
प्रकाशन का स्थान	- गोरखपुर
प्रकाशन अवधि	- त्रैमासिक
प्रकाशक/स्वामी का नाम	- आदेश सिंह
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर', कल्याणपुर, गोरखपुर
मुद्रक का नाम	- आदेश सिंह
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर', कल्याणपुर, गोरखपुर
संपादक का नाम	- अभिनव
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर', कल्याणपुर, गोरखपुर

मैं, आदेश सिंह, एतद् द्वारा घोषणा करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार सत्य ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

हस्ताक्षर
आदेश सिंह
प्रकाशक/मुद्रक/स्वामी

दिनांक : 31.1.2002